शरणागत

ओमा शर्मा

शरणागत

https://www.hindiadda.com/sharanagat/

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्व सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

(गीता : अध्याय 18, श्लोक 66)

(समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग कर मेरी शरण में आ जा। मैं समस्त पापों से तेरा उद्धार कर दूँगा। डर मत।***)***

वैसे बबली ने फोन पर मुझे चेता दिया था कि उसके घर में बड़े काका से जरा सँभलकर रहना। सँभलकर से गरज यही कि उनके ज्यादा मुँह लगने की जरुरत नहीं है। अब कोई यह बताए कि जिस आदमी को मैंने अभी तक देखा नहीं, जानता नहीं और जिसके होने के बारे में अभी तक पता नहीं था, वह मेरी किस जरूरत का सिरा हो सकता है? उम्र में मुझसे डेढ़ साल छोटी होने के बावजूद बबली बात बेबात हिदायत देने से बाज नहीं आती है।

'छोटे या बड़े जो भी ये काका हैं, आ कहाँ से गए... धरती फट गई या आसमान से टपक पड़े' मेरा कौतूहल विस्मय में बदल रहा था।

'अरे थोड़ा धीरे बोल' उसने पहरेदारी में हुई जरा सी चूक की भरपाई के अंदाज में मुझे कसा। माने उसके सास-ससुर में से किसी ने सुन लिया तो बेमतलब बदमजगी हो जाएगी।

मैं अपनी परिसंपत्ति पुनर्निर्माण कंपनी के उसके शहर में चल रहे एक झगड़े की सुनवाई के सिलसिले में आया था। काका से मिलना घर के ड्रॉइंगरूम में घुसते ही हो गया। लंबे सोफे के दूसरी तरफ दीवार के समानांतर एक आदमी प्लास्टिक की अटैची पर सिर टिकाए दूसरी तरफ मुँह करके लेटा पड़ा था। कॉल बैल बजाने पर बबली ने ही दरवाजा खोला था मगर उसके ससुर यानी पापाजी फौरन सूँघते हुए आ पहुँचे। मैंने पैरों की तरफ झुककर अभिवादन किया तो उनकी मृतप्राय: आत्मा एक शालीन हरकत से भर उठी और तभी, लगे हाथ, उन्होंने मेरी खैरियत समेत वे तमाम बातें पूछ डालीं जो मुझसे ताल्लुक रख सकती थीं - यानी मेरी तथा घर के मेम्बरान का तबियत-पानी, बच्चों की पढ़ाई आदि, पदोन्नति, कंपनी की माली हालत और अंततः उसी रोज के अखबार में नक्सलियों द्वारा महाराष्ट्र के सीमावर्ती इलाके में सत्तर पुलिसकर्मियों को घेरकर हलाक कर दिए जाने पर गठबंधन सरकार द्वारा की जाने

वाली संभावित धरपकड़ पर मेरी प्रतिक्रिया जैसे वगैरा वगैरा। अपनी कोर-टीम के तीन सदस्यों की बैंक एवं वित्त विशेषज्ञों तथा वकीलों के साथ समीक्षा बैठक-सा कुछ कर गुजरने के बाद मैं अहमदाबाद में रहने वाली अपनी इकलौती बहन के घर आ गया था। बहनोई मोहन जैन शेयर बाजार की दलाली का कारोबार करते हैं जो उन्होंने खुद जमाया है। टर्मिनल साढ़े तीन बजे बंद हो जाता है मगर रोज-ब-रोज हिसाब खींचने की आदत - और मजबूरी - के कारण मैंने देखा है वे अक्सर देर शाम को ही घर पहुंचते हैं। कभी बबली भी अपने कॉमर्स ग्रेजुएट होने को उनके दफ्तर जाकर जतला आती है मगर वह जानती है कि वहाँ उसके करने लायक 'अतिरिक्त' कुछ होता नहीं है। जमा हुआ काम है जिसे तकनीकी ने वैसे भी कायदेसर कर रखा है। पूँजी आधारित काम लगभग नगण्य है क्योंकि लुभावना होते हुए भी उसके जोखिम है और कई बार वे चपत खा भी चुके हैं।

चाय के साथ ड्रॉइंगरूम में ही की जाने वाली इन हस्बेमामूल बातों के बीच जब सोफे के सामने पड़े अजनबी ने करवट ली तो पापाजी ने बतलाया कि ये उनके बड़े भैया हैं। कोई पचासेक (पचास!) साल से लापता थे। तीन हफ्ते पहले ही इनके बारे में पता चला तो मुंबई के एक कस्बाई इलाके से खोजकर इन्हें यहाँ लाया गया। अब ये यहीं रहेंगे। तीसरे बैडरूम के बावजूद ड्राइंगरूम में उनके पड़ने-पसरने का कारण? कोई खास नहीं है; इन्हें बंद कमरे में डर लगता है। क्यों? होगी कोई बात जो... पचास साल कितने होते है! पारिवारिक अनुशासन के तहत एक अजनबी अचानक पूजनीय हो उठा। पैर छूने के लिहाज से मैं जब उनकी तरफ बढ़ा तो वे खूँखार ढंग से बरबस सिमट गए। तकिए की तरह सिरहाने लगी भदमैली अटैची उन्होंने किसी सुरक्षा कवच की तरह अपनी जकड़ में कर ली और फटी हुई कातर निगाहों से मेरी तरफ निहारने लगे। पापाजी ने तब अपने बचपन की किसी बोली में उन्हें दिलासा दिलाया कि मैं कौन हूँ। लग रहा था कि निचली अदालत में जमानत नामंजूर होने पर किसी अभियुक्त को सीखचों की तरफ ले जाया जा रहा है।

मेरा आज लगभग सारा दिन अदालत में कंपनी के फँसे मामले में जाया हुआ। अब कोई बताए कि सरीन उद्योग की उस जमीन पर दूसरे दावेदारों का हक कैसे हो सकता है जो एक बानाखत के तहत हमें दी जा चुकी है। हमने सरीन उद्योग को साठ करोड़ रुपए का नकद पैकेज दिया, उसकी गैर-उत्पादक संपत्तियों को अपनाया, पाँच-सात जगह हैड-हंटिंग करके ऐसे लोगों का जुगाड़ करवाया जो रंजक बनाने और उसके बाजार की नब्ज को जानते-समझते हों और उधर एक वाहियात मामूली ऋणदाता निचली अदालत से स्टे ले आया कि तमाम दुरुस्त दस्तावेजों के बावजूद हम उस

बंजर रकबे के साथ कुछ भी नहीं कर सकते। हमें उच्च न्यायालय की राह लेनी पड़ी जहां आज सुनवाई थी। यहाँ भी जज निचली अदालत के निर्णय में 'हस्तक्षेप' करने के मूड में नहीं था लेकिन वकील छ्बलानी ने मनमाफिक फैसला बरामद कर दिखाया। आगे की आगे देखी जाएगी। बबली-मोहनजी से कोई साल भर बाद मिलने के बावजूद दिन भर की कार्यवाही किसी बर्र की तरह भीतर घुरघुरा रही थी मगर घर में पसरे एक अजनबी फसाने ने सारा दिशाफेर कर दिया।

'सन चौंसठ की बात रही होगी जब भैया ने घर छोड़ दिया था। पच्चीस-छब्बीस की उम्र रही होगी क्योंकि उनसे छोटे हम दो भाइयों की तो शादी हो चुकी थी। आपको तो पता ही होगा कि मुझसे छोटे भाइयों में एक अभी भी आगरे के उस पुश्तैनी मकान में रहता है। परिवार बड़ा था - चार भाई, दो बहनें और एक बुआ जिनकी शादी नहीं हुई थी। पिताजी कानपुर की एक कपड़ा मिल में काम करते थे और चाहते थे कि उनका बेटा - माणक चंद, यही नाम है इनका - उनके साथ मिल में आ जाए। लेकिन ये कुछ अलग ख्यालों के थे। कहते थे कि मुझसे किसी लाला की नौकरी नहीं होगी। पिताजी समझाते कि भाई हम छोटे लोग हैं, हमेशा नौकरी करते आए हैं। बिजनेस के लिए कितना तो पैसा चाहिए होता है, इसे बिजनेस वाले लोग ही कर सकते हैं... जरा सी हेर-फेर हो जाए तो ऐसे वारे-न्यारे हो जाएँ कि हिसाब चुकते करने में जिंदगी निकल जाए। मन मारकर दो-तीन महीने ये किसी मिल में गए भी थे मगर फिर घर बैठ गए। इन्हें अपना कुछ धंधा करने की धुन सवार थी। हम लोग तो तब छोटे थे। जैसे-तैसे कॉलेज में पढ़ते थे सो घर की बहुत सारी बातों से अछूते रह जाते थे मगर इतना पता है कि पिताजी और इनमें अक्सर झगड़ा हो जाता था जिसकी पड़ोसियों को भी खबर रहती थी। पिताजी परेशान रहते और जब-तब माँ पर अपना गुस्सा सीधा करते जो अपने नालायक बड़े बेटे की सनक को संवारने में उनका अपेक्षित साथ नहीं दे रही थी। माँ-पिताजी के बीच यही फर्क था।

माँ गहरे जैन संस्कारों में पली-बढ़ी थी इसलिए दुनियादारी या तरक्की जैसी चीजों से कभी मुतास्सिर नहीं रहती थी। पिताजी के दबाव में या घर के माहौल की खटास कभी कम करने के लिए किसी धुँधलके की ओट में वह भैया को नौकरी वगैरा करने का इसरार तो करती थी मगर बड़े फोके और बेदमदार ढंग से। शायद वह सोचती थी कि भैया की नौकरी न करने की इच्छा ऋषभदेवजी की ही कोई इनायत रही हो। आखिर हमारे सारे तीर्थंकरों ने एक वक्त सब कुछ होते हुए ही तो दुनियादारी से पलायन किया था। मगर माँ की यह सोच भैया के मामले में सरासर गलत थी।भैया दुनियादारी को छोड़ना नहीं, ज्यादा अच्छी तरह ओढ़ना चाहते थे। ये नौकरी नहीं करना चाहते थे

क्योंकि उससे मिलने वाली तनख्वाह की तयशुदा आमदनी कम लगती थी। उधर इनकी काबलियत भी कोई ऐसी नहीं थी (आठवीं की पढ़ाई तो अधूरी छोड़ बैठे थे) कि कोई धन्ना सेठ अपने कारोबार की ताली इनके हवाले कर देता। उन्हीं दिनों अपने एक संगी के साथ मिलकर इन्होंने चूहे मारने की दवा बनाने-बेचने का काम शुरू किया। अब आप ये देखो कि इस कारोबार की जड़ ही जैन धर्म की बुनियाद के खिलाफ थी - किसी जीव की हत्या का व्यवसाय। आपको बेटा अब पता नहीं होगा लेकिन उन दिनों आगरा में चूहों का वाकई प्रकोप-सा था जिसमें एक जैनी होने के बावजूद भैया को धंधे के लिए बाजार दिखा था। माँ को जब पता चला तो उसका दिल ही बैठ गया। इससे ज्यादा बड़ा आघात - और पाप - और क्या हो सकता था? माँ का रवैया इतना अड़ियल और दहशतभरा था कि उनके बरदाश्त बाहर हो गया और भैया ने घर छोड़ दिया।

इसके कुछ दिनों बाद यानी सत्ताईस मई को पिताजी की मौत हो गई जिसे माँ ने सीधे-सीधे भैया के चूहे मारने के धंधे का प्रायश्चित माना। इधर-उधर पता लगाकर मैं खुद भैया को पिताजी के निधन की सूचना देने गया था मगर ये घर नहीं आए तो नहीं ही आए। उस दौर में हम लोगों के लिए यह ज्यादा बड़ा सदमा था। अकेले पिताजी ही तो जैसे-तैसे घर की गाड़ी चला रहे थे। वे अचानक चले गए तो आप सोच सकते हो हम सब पर क्या बीत रही होगी। ऐसे में घर का बड़ा बेटा यूँ कूच कर जाए तो क्या होगा? आज उन हालात का क्या बखान करें। वैसे भी खराब याददाश्त दारुण स्थितियों पर भी कैसा लेप चढ़ा देती है। 40-50 बरस बाद उसकी याद भी कँपकँपी दे जाती है। मई चौंसठ की उस तारीख को रहा होगा देश को नेहरूजी की मौत का सदमा मगर हमें इसकी क्यों पड़ी होती जो अपनी ही व्यथा से मरे जा रहे थे।

माँ उन दिनों हर दम नवकार मंत्र जपती रहती।

नमो अरिहंतानम

नमो सिद्धाणम

नमो आयरियाणम

नमो उवज्झायणम

नमो लोए सव्वसाहूणम

ऐसो पंच नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो

मंगलाणम च सव्वेसिम पढमं हवइ मंगलम।

इससे हम बच्चों या परिवार को कोई सहारा मिलता नहीं दिखता था लेकिन तारीफ करनी होगी माँ की जिसने तब भी अपनी आस्था का आसरा नहीं छोड़ा। हम लोगों के पास न कोई पुस्तैनी जोत-जायदाद थी और न आमदनी का दूसरा कोई साधन। और इसको कोई क्या कहें कि उस औरत की मौत महीनों तक कर्क रोग से लड़ते हुए हुई। सिर्फ पूर्वभव कर्मकाल कहना काफी है? खैर। भैया की बात कर रहा था मैं। बाद में पता चला ये कर्जदार हो गए थे और कर्जदाताओं से बचते हुए ये दर-बदर भागे फिर रहे थे। इसकी कुछ आँच हमारे घर भी आई...।

'पापाजी सारी कहानी एक ही बार सुना देंगे या इन्हें कुछ पेट-पूजा भी करने देंगे।'

तभी मोहनजी ने आकर पुत्रवत अधिकार से हस्तक्षेप किया।

वे वहाँ कब आए यह तो पता ही नहीं चला।

पापाजी एक पल को रुके भर। शिकन या झिझक जैसी कोई चीज चेहरे पर नहीं उभरी। उनकी शुमार मेरे देखे उन अधिकांश बूढ़ों में की जा सकती थी जो अपनी बात करते वक्त मौका, गरिमा या असर के दायरों से मुक्त रहते हैं।

आत्मलीनता जिनका चयन नहीं, अभिशप्त अवस्था होती है।

'इन्होंने बात चलाई तो बात शुरू हो गई नहीं तो कहाँ से होती' उन्होंने उसी इकहरे स्वर में जवाब देते हुए भी मानो अपने से ही बात की।

'दफ्तर में यहाँ आने से पहले कुछ स्नैक्स हो गए थे इसलिए मुझे कोई जल्दी नहीं है'

मुझे सफाई में उनकी तरफ से जोड़ना पड़ा।

उनकी कहानी में मेरी जिज्ञासा पूर्ववत तनी खड़ी थी। बबली-मोहन जब कुछ देर में हाल चाल नुमा बातें करके चले गए तो मैंने एक श्रोता की वही मुद्रा उनकी तरफ ओढ़ ली।

'कहाँ भाग गए थे ये तब?'

'कब?' इस बार उन्होंने मेरी तरफ घूरते हुए पलट प्रश्न किया।

'आप बता रहे थे न कि पिताजी के देहांत के बाद ये भाग गए थे।'

मैंने बेतार का तार जोड़ते हुए, झिझकते हुए, हौले से सादर कहा।

'पिताजी को तो दिल का दौरा पड़ा था... वो भी हमें बाद मे पता चला... अस्पताल ले जाने की नौबत ही नहीं पड़ी... कोई फायदा भी नहीं था... वैसे भी हमारे पास पैसे कहाँ थे जो उनका इलाज करा पाते। जय जिनेंद्र...' कह कर उन्होंने एक डकार सी भरी।

कंप्यूटर की भाषा में कहूं तो पापाजी अपनी कोई दुसरी विंडो ही खोल बैठे थे। हाँफने अलग लगे थे। ये अच्छा ब्रेक मिला... इनका तो चैनल ही बदल गया। अंतिम उवाच सुनते ही लगा कि ये तो शट-डाउन कर गए।

'नहीं पापाजी, वो आप भैया की बात कर रहे थे ना...?'

काश, ये री-स्टार्ट शॉर्ट-कट काम आ जाए!

'हाँ, वही तो मैं कह रहा था कि मेरे छोटे भाई की कोई गलती नहीं थी। उसकी वाइफ... क्या नाम था उसका (नाम याद करने की जाहिर कोशिश)... जो भी था... बहुत लड़ाका थी वर्ना आज वह कोटा में रह रहा होता...'

'पापाजी आप छोटे वाले नहीं, बड़े वाले भैया की बात कर रहे थे... वे जो उधर ड्रॉइंगरूम में लेटे हैं', मैंने कुछ जोर सा देकर, इशारे के सहारे से उन्हें याद दिलाने की चेष्टा की। दम तो साधे हुए था ही।

'बड़ा मुश्किल है...।'

वे जैसे अपने ट्रांस से उतरना ही नहीं चाह रहे थे। मतलब, मुझे तो यही लगा।

'मुश्किल क्यों है पापाजी... आपका अपना भाई घर-शहर छोड़कर चला जाए और घर वाले उसकी तफ्तीश न करें... ऐसा होता है?' मैं एक तार्किकता पर उतर आया जो उनके जैसे बुजुर्ग संबँधी के संदर्भ में नासमझी करार दी जा सकती थी।

'किसने कहा तफ्तीश नहीं की थी?'

अचानक उनका तेवर आक्रामक हो उठा। भंगिमा नाराजगी भरी। दायाँ हाथ किसी प्रछ्न्न मनाही में लरजने लगा 'खूब तफ्तीश की थी। मैं खुद मारा-मारा फिरा था... पता नहीं कौन-कौन से शहर-कस्बे छान मारे... पावापुरी से लेकर पालीताना... सम्वत- शिखर... शिरडी तक...।'

'पापाजी आप खुद गए थे?'

सही संकेतों की उभरती पित्ती देख मैं गालिबन हौसला-अफ्जाई में उन्हें सहलाने लगा।

'जी हाँ। मैंने खुद इनको कई बार तलाशा' उनकी गर्दन में एक गुस्सैल अकड़-भाव आ गया। मैंने आगे कुछ नहीं जोड़ा तो बोले 'आगे के जमाने में पैसे की तंगी इतनी थी कि सस्ते होटल में भी भाड़े का कमरा लेकर वक्त गुजारने की कौन सोचता। बस एक ठिकाना दिखता था - करीबी या दूर का कोई रिश्तेदार। तो भैया और उनका एक दोस्त आगरा के पास के कस्बे, अंबाट में रहने वाले दोस्त के रिश्तेदार के घर चले गए। उसकी वहाँ एक दुकान थी। कपड़े की। उसके यहाँ ये दोनों एक-डेढ़ महीने जैसे रहे होंगे। इससे ज्यादा की गुंजाइश नहीं थी। जब तक मैं वहाँ पूछते-पाछते पहुँचा, ये लोग जा चुके थे...' कहकर वे चुपा गए।

'फिर क्या किया आपने ?'

मैं किसी तरह का व्यवधान नहीं बनना चाहता था इसलिए इतना भर छेड़कर उनके रहस्योदघाटन का इंतजार करने लगा। उन्होंने एक लंबी साँस ली... किसी प्रागेतिहासिक बिसराई लिपि को डबजोड़ बिठाकर या अंदाजन पढ़ने की अंदरूनी मुश्किल से निबटते हुए।

मेरी खामोशी ने ही शायद उन्हें सँभलने का स्पेस दिया हो। 'क्या करता? घर लौट आया। उसके कोई छह महीने बाद इनका एक पोस्ट कार्ड घर पहुँचा... कि वे हैं... ठीक-ठाक जैसा कुछ नहीं... घर नहीं आएँगे। माँ समझ ले कि उन्होंने दीक्षा ले ली है। माँ बहुत तड़पी - दीक्षा जैसे पवित्र और महान कर्म की ऐसी बेकद्री पर। पोस्ट कार्ड में जगह का नाम-पता कुछ नहीं था सो कोशिश करके भी हम इन तक पहुँच नहीं सकते थे। तंगी की मार थी ही तो चुप लगा गए। सबसे छोटे भाई की भी शादी हो गई। वह नौकरी करने कोटा चला गया। एक जैन मुनि के कहने पर मैं यहाँ अहमदाबाद चला आया और यहीं का होकर रह गया... अपने अपने बाल-बच्चे होने के बाद किसी और की गुंजाइश रहती भी कहाँ है... !'

इस मर्तबा वे बात खत्म करने के अंदाज में ठहर गए।

तो क्या बात वाकई खत्म?

बस इतनी सी बात या फिर इस उम्र की सहचर - विस्मृति - का एक और प्रहार!

मेरे खामोश रह जाने पर भी जब देर तक वे कुछ नहीं बोले तो मुझे पूछना पड़ा **:**

'फिलहाल ये आपको कैसे मिल गए **?'**

तभी कमरे में मोहनजी प्रवेश करते हुए बोले 'इस बात का जवाब मैं बताऊँगा आपको। मगर पहले खाना-वाना तो हो जाए। ड्राइव पर भी चलना है। क्यों बबली?'

आखिरी बात उन्होंने तभी साथ आकर खड़ी हुई बबली की तरफ धकेली। मैं किसी सकते से बाहर आया।

उस पुलिंदे के अतीत में झाँकने की मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी लेकिन उसे वहाँ में घुसते ड्रॉइंगरूम ही पड़े देख असहज होने से ज्यादा रहस्यात्मक सा ऐसा कुछ लगा था कि कौतूहल जाग पड़ा था।

अगली सुबह तक मेरे देखे घर का माहौल अजीब तरह से मजेदार हो गया था।

माणकचंद अपनी उसी खस्ताहाल अटैची को दबाए सोफे के सामने नीचे फर्श पर बैठे थे। ऊपर बैठकर उन्हें डर लगता था... गिर जाएँगे या कोई गिरा देगा। जमीन पर सब साम्य और सामान्य। दुविधा यही थी कि उनके मुताबिक घर में रहने वाले सदस्यों की कार्यकारी भूमिकाएँ बदल गई थीं।

मसलन, मोहनजी एक पोस्टमैन थे।

वे जब भी घर में घुसते या ड्रॉइंगरूम से गुजरते, उन्हें गुहार लगती 'अरे पोस्टमैन बाबू, माणकचंद की चिट्टी है कोई?'

'नहीं है'

अनचाही भूमिका स्वीकारते हुए मोहन नकारते हुए कहते।

'नहीं है! धत्तेरे की... आज भी नहीं है' बूढ़ा कुछ कुनमुना सा जाता।

'हाँ, आज भी नहीं है।'

'अपना काम ढंग से ना करौ हौ बाबू... दुनिया भर की चिट्टियों में माणकचंद की एकऊ नाय... तुमारी शिकैत करिंगे...।'

यह अमूमन रोज का किस्सा था जिसका दूसरा सिरा मोहनजी ने ही खोला।

मुंबई के एक घराने को गुजरात के कच्छ इलाके में एक विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) बनाने की अनुमति मिली थी जिसके लिए कुछ प्रोमोटर्स मोहनजी की मार्फत जुटाए जाने वाले थे। उन्हीं में से एक - सुरेश गुलेचा - के साथ डिनर पर एक दफा गपियाते हुए पारिवारिक तफसीलों का जिक्र हुआ तो हमारे 'रोरा' गोत्र को सुनकर उसे लगा कि इस उपनाम का कोई आदमी उसके दायरे में मुंबई में है। खैर, बात आई-गई हो गई क्योंकि मोहन के जेहन में तो ऐसा कोई था नहीं। मुंबई में रह रहे अपने बेटे के पास पहुंचते ही गुलेचा ने बताया कि उसके बेटे की एनजीओ है जिसने कुर्ला स्टेशन के आस पास पसरे कुछ बेघर लोगों को अपना रखा है। बेटे ने एक बार किए जा रहे काम और वार्षिक उपलब्धियों के सिलसिले में आयोजित कार्यक्रम में पिता को बुलाया था। वह उपनाम उन्हें याद है क्योंकि रंगारंग कार्यक्रम में जिस लाभार्थी ने गीत गाया था वह जैनों के प्रिय तीर्थंकर नेमनाथजी की बारात का बखान था जो उन्हें आज भी याद है :

नेमजी की जान (बारात) बड़ी भारी।

देखन को आवे नर नारी।

समुद्र-विजयजी का लाडला नेमकुँवर जी नाम

राजुल को आए परणवा उग्रसेन घर शाम

प्रसन्न भई नगरी सब सारी।

नेमजी तोरण पर आए

पशु सब मिलकर कुर्राए

इनको भोजन होवसी जान वास्ते त्यारा

एह वचन सुण नेमजी, थर थर काँपी काया

भाव से चढ़ गए गिरनारी।

नेमजी की जान बड़ी भारी।

पीछे से राजुलढ़े आई

हाथ जब पकड़यो छिनमाई

कहाँ तू जावे मोरी जाई

और वर हेरु सुखढ़ाई

मेरो तो वर एक ही, हो गए नेम कुमार

और भुवन में वर नहीं, चाहे करो कोई उपचार

झूरती छोड़ी माँ प्यारी।

नेमजी की जान बड़ी भारी।

तोड़या काँकड़ डोरहा, तोड्यो नवसर हार

काजल टीकी पान सुपारी त्याग्यो सब सिणगार

करी अब संयम की तैयारी।

नेमजी की जान बड़ी भारी।

माता-पिता को तजता न लागी वार

रह नेमी समझाय के जाय चढ़ी गिरनार

दिक्षा फिर राजुल ने धारी।

नेमजी की जान बड़ी भारी।

गुलेचा को गायकी के साथ चौंकाने वाली बात यही लगी कि अपने जैनों में ऐसा कौन है जो इतने सारे मंदिरों-देरासरों को छोड़ कुर्ला-स्टेशन के सामने यूँ बेघर-बेसहारा रहता है? उसके बारे में जब और जानकारी माँगी तो ज्यादा कुछ हासिल न हो सका सिवाय इसके कि यह कोई उत्तर भारतीय है जो दो-तीन बार आॅर्थर रोड जेल भी रह आया है। लोग ही बताते हैं कि बहुत पहले स्टेशन की सीढ़ियों पर फिसलकर गिरने से इसकी याददाश्त गड़बड़ा गई है। इसे अपने जीवन के तीस-चालीस बरसों की याद लगभग नहीं है। हो सकता है दिमाग ही फिर गया हो। पास के चलताऊ वृद्धाश्रम में भी रखा गया था। वहाँ पता नहीं किस सरकारी स्कीम के तहत एक कारिंदा पैंशन के कागजात तैयार करवाने की पहल करके चला गया था लेकिन ये जनाब वहाँ से खिसक भागे। म्यूनिसिपल्टी के सफाई दस्ते ने इन समेत दर्जन भर दूसरे यतीमों की धर-पकड़ की

थी क्योंकि वड़ापाव के लिए झपट्टा मारते समय झगड़ा बढ़ गया था जिसमें एक ने दूसरे का गला रेत दिया था। उस एनजीओ ने हस्तक्षेप करके बेकसूरों की जिम्मेवारी ली और वापस में वृद्धाश्रम रहनेवाला एक बूढ़ा हमारा कोई अपना हो सकता है। यह जानकारी उस में वृद्धाश्रम साप्ताहिक स्वास्थ निरीक्षण को जाते उस डॉक्टर के सहायक ने उन्हें दी है जो मूलत: कोटा से है और जब तब वहाँ आता रहता है। पड़ोसी है।

गुलेचा और कोटा वाले चाचाजी की बातों में मोहन को धुँधला तारतम्य दिखा इसलिए सेज प्रोजेक्ट के सिलसिले में महीने भर बाद जब वे मुंबई आए और समय निकालकर वहाँ गए तो वृद्धाश्रम के उस मरियल बूढ़े को देख हतप्रभ रह गए जो अपनी जर्जर हालत में भी दूर से ही पापाजी की याद दिलाए जा रहा था। पापाजी ने तो कभी अपने बड़े भाई का जिक्र नहीं चलाया था। मोहनजी की माँ, यानी बबली की सास ने यदि उत्साह और आग्रह नहीं दिखाया होता तो वे तमाम कागजी कार्रवाई करने की हिम्मत नहीं जुटा सकते थे जिसके तहत एक परिजन - उनके सगे ताऊ या बड़े काका जो कहो - को कोई आधी सदी के बाद परिवार में बहाल करना था।

'वैसे ये बढ़िया ताऊ ढूँढ़ा जो भतीजे को हरदम एक पोस्टमैन बनाए रहता है' बातों की बेतरतीबी मोहनजी ने खुद पर तंज कसा।

'इतनी तरह के हाकिमों के बीच पोस्टमैन का दर्जा नवाजने की कोई खास वजह?' मैंने सोचा क्या पता दो-तीन हफ्तों में कोई सुराग अनजाने ही छूट गया हो।

'वजह तो वही बता सकता है जो मेरे घर में मुझे ही धड़ल्ले से पोस्टमैन बनाए रखता है। मैं तो बस कयास लगा सकता हूँ। वृद्धाश्रम से छुड़ाने की कार्यवाही के दौरान मैंने देखा कि इनकी निगाहें दरवाजे की तरफ दौड़ती रहतीं थीं। जो कोई वहाँ आता, इन्हें लगता इनसे मिलने या इन्हें कुछ देने आया है। सूँघते हुए उसके पास जाते और 'कागद लायौ' की टेर छेड़े रहते। थोड़ी दरयाफ्त के बाद पता चला कि वृद्धाश्रम के कुछ रहवासियों (इनमेट्स) को किसी वृद्ध पुनर्वास योजना के तहत दो सौ रुपए माहवार की पैशन सुलभ हो गई थी। ये उन दिनों वहाँ से गायब हो गए थे तो वह कागज नहीं बन सका या हो सकता है वापस चला गया हो। उसके बाद तो खैर बात ही खत्म हो गई। अलावा इसके आपको पता होगा कि वृद्ध पेंशन योजना का क्रियान्वयन मुख्यतः डाक घरों के जरिए होता है इसलिए हर मददगार सरीखा आदमी इन्हें पोस्टमैन दिखता है। वैसे यह कम चौंकाने वाली बात नहीं है कि गड्डमड्ड और

जर्जर याददाश्त के झंझावात में भी अपने जीवन का उद्धार करने वाले किसी कागज का इंतजार इनके भीतर किसी गिले सा चिपक गया है... '

मोहनजी ने बड़े वस्तुनिष्ठ ढंग से समझाया।

स्थितियों के प्रति निर्लिप्त भाव बिना बड़प्पने में जिये कहाँ आ पाता है।

'एक बात मेरी समझ में नहीं आई मोहनजी... वृद्धाश्रम में भी इनको सँभालने वाले रहे होंगे और यहाँ तो आप लोग खैर सब कुछ कर ही रहे हैं... तो फिर इन्हें किस नापैद अदने कागज का इंतजार है और क्यों... ' मैंने पूछा।

'सही बात है। लेकिन इसका जवाब मैं नहीं कोई मनोविज्ञानी ही दे सकता है। वृद्धाश्रम में ये बहुत दिन थोड़े रहे होंगे। मुझे तो लगता है यह पेंशन के सिवाय भी कोई मामला होगा... बाकी तो भगवान जाने... ' मोहन ने हाथ खड़े कर दिए।

'इनका खाना-पीना कैसा रहता है... मेरा मतलब है क्या और कितना...?'

'उसकी तो भाईसाब कोई दिक्कत ही नहीं है। कभी माँगते नहीं है। जो दे दो, जितना दे दो निगल लेते हैं...।'

'निगल लेते हैं मतलब?' मैंने लफ्ज पकड़ा और सोचा शायद उन्होंने अनजाने में ज्यादती करते कुछ कहा है।

'निगलना ही हुआ जी... इनको किसी चीज का स्वाद तो रह नहीं गया है। मैंने डॉक्टर से चैकअप कराया था। दाल-सब्जी में नमक-मिर्च कितना ही हो, इन्हें फर्क नहीं पड़ता है। मीठा तो छूते भी नहीं हैं...।'

मैं ठिठका और सोचने लगा कि ऐसा क्या हुआ होगा कि एक व्यक्ति की स्वादेंद्रियाँ ही चली जाएँ? आम लोगों की पाँचों इंद्रियाँ समान रुप से विकसित नहीं होती है। मुझे सारे परफ्यूम एक से लगते हैं। चालीस साल से ज्यादा सड़कों पर सर्दी-गर्मी, भूख और पता नहीं क्या और कितनी वास्तविक अनिश्चितताओं की मार का ही असर... या कोई मानसिक सदमा।

इनके ब्लैक बॉक्स को डिसायफर करना नामुमकिन है।

'इनकी इस अटैची में क्या है जिसे ये हरदम सिरहाने लगाए रहते हैं।' ब्लैक बॉक्स ख्याल मात्र से ही मेरे भीतर एक शंका आ कौंधी।

'अजी उसका मत पूछो... पता नहीं क्या कुबेर का खजाना है इसमें जो इसे जान की तरह चिपकाए रहते हैं। एक दिन काम वाली बाई ने सफाई करते समय दूसरे कमरे में उठाकर रख दिया तो किसी बनैले जानवर की तरह बिफर पड़े थे। पापाजी की हिदायत है कि अटैची से कोई छेड़खानी न करे...।'

ऑडीटर्स, बैंकर्स और इन्वेस्टर्स के साथ अपनी कोर टीम की दिन भर घूमती बैठकों से निजात पाकर देर शाम को जब घर लौटा तो घर के माहौल में महसूस करने लायक उष्मा थी। माणकचंद के लिए मोहनजी तो एक पोस्टमैन थे ही, बबली किसी कचहरी में काम करने वाली पेशकार थी जिसके ऊपर उन पर चल रहे किसी पुलिस केस के कागजात आगे बढ़ाने का महत्वपूर्ण दायित्व था। वे उसको मिन्नत करती सी अदा में 'बहनजी' से ही संबोधित करते। वह इसमें खुश थी कि चलो पति से तो ज्यादा इज्जतदार किरदार नसीब है उसे।

वैसे वह घर किसी मुसलमान परिवार का था जिसके मुखिया पापाजी थे।

'भारत-पाकिस्तान कू लड़नो नहीं चाइए। मुसलमान लोग भले होत हैं। अब गे देखो जो मोकू न्यहाँ लाए हैं... मुसलमान हैं ... मगर हैं कितने बढ़िया...।'

सन पैंसठ या इकहत्तर की कोई वारदात या कोई दंगा भीतर अटका रह गया होगा जब अफरातफरी में किसी अलाने फलाने शहर-कस्बे-देहात में किसी मुसलमान घर में इन्हें रोटियाँ तोड़ने को मिली होंगी। आगरा में भी तो हिंदू-मुसलमानों के घर से घर सटे थे।

'या भाईजान कू देख कै तो मोय अपने भाई की याद आवे है।'

यह इशारा पापाजी की तरफ होता। बबली ने बताया कि पापाजी ने उन्हें पकड़कर समझाया था कि वे उनके भाईजान नहीं, भाई हैं तो माणकचंद ने पल भर उन्हें घूरकर देखा और 'चों बनाओ... मोकू पतौ नांय' कहकर फिस्स से खारिज कर दिया।

सुनकर पापाजी की आँखें नरमा गई थीं।

'अच्छा, तुम मुंबई से आए हो। अधीर ते मिले। गोऊ तो म्हीं गयो थौ। लौटोइ ना। मुंबई कौ माल अच्छो हैवे। आज नंबर कौन सौ लगो है बाबू...।'

मैं तरोताजा होकर उनके पास आकर बैठा तो उनकी एक दुनिया समानांतर मेरी तरफ भी खुल गई। मैंने 'बारह नंबर' कहा तो वे 'अरे यार, बीस नंबर निकलो होतो तो अपनौ

काम है जातो' कहकर मुरझा से गए। शायद मटका का खेल खेला जा रहा हो - इंटरनैट के अलावा और उससे कहीं पहले की उनकी अपनी और अलग आभासी दुनिया में।

बहरहाल यह मेरे लिए अच्छी खबर थी कि मुंबई का होने के कारण मुझे उनसे कुछ अतिरिक्त अंक मिल गए थे। शायद कोई सुराग हाथ लग सके। लेकिन रात को तो वे आठ बजे तक अपने कंबल में मुँह छिपाकर घुस जाते। कब सोते होंगे, कब जागते होंगे इसका कोई ठिकाना नहीं था क्योंकि हम लोग जब सुबह की चाय पी रहे होते तब भी वे उसी तरह मुँह ढके सिकुड़े पड़े होते। शुक्र था कि यह मौसम गर्मी का नहीं था। उस दिन उठाने के लिए मैंने जब थोड़ी कड़की बरती तो फौरन मुँह उघाड़ लिया। मैंने चाय का प्याला उनकी तरफ किया तो खुश होकर बोले 'अरे वाह... सुबह-सुबह चाय मिल गई... कौन सी ट्रेन आई है बाबू?'

साफ था कि अरसा स्टेशन पर गुजरा होगा।

अगले दिन मुझे कोई दफ्तरी काम नहीं था सो घर पर ही उनके साथ मगजमारी करने की सुविधा थी।

क्या मेरे भीतर कोई फितूरी प्रतिभा है - पटरी से उतरी कंपनियों और लोगों की तह तक जाने की।

लोगों का नहीं कह सकता।

बबली ने चुपके से रगेदते हुए कहा भी कि एक खिसके हुए बूढ़े के साथ वक्त बिगाड़ने से तो अच्छा है मैं सी जी रोड साबरमती आश्रम या गांधीनगर की तरफ निकल जाँऊ और देखूँ कि कैसे उसका अहमदाबाद किसी भी मामले में मुंबई से कम नहीं रह गया है। एक से एक बढ़िया मॉल, मल्टीप्लैक्स, फ्लाइओवर्स, गमकते चहकते बाजार जिसमें पिज्जाहट, सबवे, मैक्डोनाल्ड, लुई व्यूटॉन और लक्मे जैसों की गहमागहमी भरी साज सज्जा के साथ वैस्टसाइड, एअरटेल और फैविकोल जैसी घरेलू ब्रांडों के समानांतर बढ़ते कदम जो विज्ञापन की मार्फत उपस्थिति दर्ज कराते हैं। सब्यसाची और मनीष मल्होत्रा न सही लेकिन अहमदाबाद के पास अपने डिजाइनर्स हैं। मुझे तभी ख्याल आया कि यह कोई संयोग नहीं है कि चारों 'बिग फोर' यहाँ मजे से अपनी दुकानें खोल चुके हैं। एकाध मसले पर मेरी कंपनी ने खुद उनकी सेवाएँ ली हैं।

शहरों के बीच का फर्क कम हो रहा है या उनकी क्लोनिंग हो रही है? मैं जाने के लिए निकला भी मगर फिर ख्याल आया कि क्यों न माणकचंद को भी साथ ले लूँ। यह

दोपहर के खाने के बाद की बात होगी। थोड़ी अंड-बंड सी ना-नुकर के बाद वे आ गए। जिस आदमी के साथ वाकफियत जैसा भी कुछ न हो या जो अपने पता नहीं किस अतीत की वर्चुअल दुनिया में मारा फिरता हो, कोई सोच सकता है, कार की बाजू वाली सीट पर बैठा वह कितना असहज या बोर कर रहा होगा। किताबों-कहानियों में आए ऐसे चरित्र जितना पाठकीय थ्रिल लिए होते हैं, असल जीवन में उतने ही ठस्स, शुष्क और जानलेवा छाप होते हैं। फिर इस आदमी का ऐसा कौन सा महान अतीत था जिसे उसकी हाली कैफियत ने ढाँप रखा है और जिसकी पड़ताल किसी रोचक कथा के मनोसूत्र उछाल सकती थी? राजनीति और मौसम के अलावा वैसे भी किसी आम बूढ़े से कोई क्या बात कर सकता है।

यहाँ तो वह 'आम' भी नदारद था।

जैसे ही हमारी गाड़ी फन रिपब्लिक के पास जाकर रुकी, माणकचंद बेतरह चीख पड़े। जैसे कोई दौरा पड़ा हो। ड्राइवर के अलावा मल्टीप्लैक्स के बाहर तैनात एक गार्ड जब मदद के लिए आदतन दौड़ा आया तो उनकी हालत आक्रामक ढंग से बेकाबू हो उठी।

पीछे की सीट पर वे औंधे होकर बड़बड़ाए जा रहे थे... लिकड़ो लिकड़ो... बाबू मैंने कछू ना करौ... सगरी गलती खेमा की है... वई न घासलेट में पानी मिलायो... माई-बाप रहम... इनसपैकटर साब...।

कहने की जरुरत नहीं कि पिछली किसी धरपकड़ की पित्ती उछल आई थी। शायद गार्ड को देखकर।

आइंदा ध्यान रखना पड़ेगा।

लेकिन शहरों में प्राइवेट सिक्योरिटी कितनी ज्यादा बढ़ गई है।

जो भी हो, घर आते ही बबली से पूछकर मैंने नजदीक का डॉक्टर बुलवा लिया और चैक-अप करा दिया। सब कुछ देखने-भालने के बाद उसे 'केस' अपने से ज्यादा काबिल (यानी विशेषज्ञ) डॉक्टर लायक लगा। फिलहाल एक ट्रान्क्वेलाइजर उसने दे दी थी जिसको देने का इतर फायदा यह रहा कि उनकी पोटली नुमा अटैची को मैंने सावधानी से खोल लिया।

मगर यह क्या?

एकदम खाली!

सिवाय एक पीलीयाग्रस्त ब्लैक एंड व्हाइट फोटो के जो किसी लड़की का लगता था। फोटो के पीछे पेन्सिल से जो घसीट थी इतनी धुँधली पड़ चुकी थी कि पढ़ी नहीं जा सकती थी।

चलो, नाम तो पता चल गया : सुमित्रा।

कौन होगी?

क्या पापाजी को इसकी कुछ जानकारी होगी?

होगी भी तो क्या याद रह पाई होगी?

याद भी रह गई तो क्या बता सकेंगे?

'ये अजीब बात है कि पिछले दो महीनों मे मेरी नजर में आया यह चौथा केस है... और तो क्या कहें इसे... रिप वैन विंकल इफैक्ट!'

माणकचंद और उसके स्कैनों का मुआइना और तफसील से हमसे सारे मालूमात सुनने के बाद मनोचिकित्सक चिरानिया ने हमारे सामने ब्लैक बॉक्स का कवर सा हटाया।

क्या मतलब?

हम चुप ही रहे... खुलासे जैसी किसी चिड़िया के इंतजार में।

'ये अपनी चालीस-पचास साल पुरानी - या जब कोई हादसा इनके साथ हुआ होगा - टूटी-फूटी मैमॅरी के आसपास घिरे रहते हैं। यह ब्रेन और बायलॉजी का मामला है जिसमें कोई छेड़-छाड़ नहीं की जा सकती है। वैसे भी इनकी उम्र ऐसी है कि आई वॉन्ट रिकॅमंड इंटरवैन्शन जिसकी वैसे भी कोई गारंटी नहीं। कंप्यूटर ब्रेन की तरह काम करता है मगर हमारा ब्रेन कोई कंप्यूटर नहीं जरूरत पड़ने पर जिसकी कोई माइक्रोचिप रिपेअर या रिप्लेस की जा सके। ये कुछ बता नहीं सकते और केस हिस्ट्री हमारे पास है नहीं तो मुझे लगता है इनके हिप्पोकैंपस - जहाँ मैमॅरी स्टोर्ड रहती है - में बहुत टाइम से जोड़-बढ़त होनी बंद हो गई है। मैमॅरी में बसी किसी पुरानी इमेज को लेकर जब ये अपने आस पास के किसी मल्टीप्लैक्स या मॉल की तरफ जाते हैं तो भीतर बसी इमेज और बाहर की चकाचौंध के बीच एक घमासान मच उठता है। नई इमेज को मैमॅरी में ट्रांसफर और रजिस्टर करने वाला इनके ब्रेन का सर्किट डैमेज्ड है इसलिए देखी जा रही इमेज, भीतर बसी इमेज से बहुत ज्यादा अलग और विकराल

पड़ती है जिसे इनका दिल सँभाल नहीं पाता है। जैसा आप लोगों ने बताया है, हो सकता है पुलिस-वुलिस की धरपकड़ या टॉर्चर जैसी बातें भी रही हों मगर मेरी समझ में असल मसला भीतर की बसी पुरानी और उसके साथ लगातार बाहर फैली संस्कृतियों की अघोषित, औचक और अवश्यंभावी भिड़ंत का है... इट्स एन अनफोर्चुनेट बट इनइविटेबल क्लैश...'

ये मनोचिकित्सक है या दार्शनिक!

अजीब लगते हुए भी उसकी बातें किसी समाजशास्त्रीय नवोन्मेष का संतोष दे रही थीं।

'लेकिन डॉक्टरसाब, ये किसी गाँव-देहात से थोड़े आए हैं... कुछ दिनों पहले तक ये मुंबई में थे...' मौहन ने किसी चुन्नट को सीधा करने की गरज से कहा तो डॉक्टर ने 'आई डोंट बिलीव दिस' की हैरत जतलाई।

वैसे भी, मुंबई से तो उनको लाया गया था। वहाँ कितने दिन रहे या उससे पहले के दिनों का तो कोई हिसाब नहीं था।

'मुंबई में कहाँ?' पल भर की ठिठक के बाद डॉक्टर ने पूछा।

'कुर्ला'

'उसे भी आप मुंबई मानते हैं?'

यानी डॉक्टरी नतीजों में कोई शिकन नहीं।

मैं कुछ नहीं बोला। सत्तर प्रतिशत मुंबई अपने जाहिर रूपक से कितनी दूर और बेमेल है।

तभी मुझे सुबह की घटना याद हो आई।

ड्रॉइंगरूम के टीवी पर कुछ देर चैनल सर्फिंग करने के बाद उसे चलता छोड़ मैं नहाने चला गया था। ये महाशय किसी अफीमची की तरह उसे घूर रहे थे। जब लौटा तो धुन्ना से दिखते ये जनाब उस प्रोग्राम के एंकर से बतिया रहे थे :

'हत्ततेरे की, हत्तेरी की' किए जा रहे हैं।

'नैक मेरी बात तो सुनौ' जैसी चिरौरी कर रहे हैं।

'येई तो गल्त बात है तुमारी... हमारी बात सुनैई नाओ' जैसी ऊपरी खीज में बड़बड़ा रहे हैं।

यानी उनका तो नौटंकी युग अभी खत्म ही नहीं हुआ है।

चिरानिया की संस्कृतियों की भिड़न्त वाली बात मेरे गले उतरने लगी।

'क्या करें डॉक्टरसाब?'

मोहन किसी अभिभावक की भूमिका में आ गए।

'कुछ दवाइयाँ हम शुरू करते हैं और देखते हैं कि ये कैसे रेस्पॉन्ड करते हैं। बाकी यू ऑल ट्राई टू ब्रेक आइस विद हिम... ही मे वैल बी कैरीइंग ए होल आइसबर्ग इनसाइड... कभी कभी तार से तार जुड़ता है। कुछ दिनों बाद, धीमे-धीमे बाहर ले जाकर देखेंगे। फिलहाल नहीं। एक उम्र के बाद याददाश्त वैसे भी आँख मिचौनी खेलने लग जाती है, फिर ये तो अस्सी के हो रहे हैं। इनके लिए तो क्वालिटी ऑफ लाइफ इज मोर इंपोरटेंट दैन एनीथिंग एल्स...' हम सब को तमाम तरह के डूज और डोंट्स समझाकर डॉक्टर चिरानिया चले गए।

माणकचंद की बेसिर पैर की बातें और अजीबोगरीब रवैया सुनने में (वह भी शुरू शुरू में) थोड़ा मजेदार लगे मगर वास्तव में वे लोहे के चने थे। खिचड़ी बेगरी दाढ़ी, खुड्डा पिचका हुआ लंबा सा मुँह जिसे अपनी लार निगलने की आदत के कारण वे लगातार खोलते बंद करते रहते। हद दर्जा चुप्पा जीव। शायद उनकी कोई अपनी दुनिया थी जिसमें हम अधकचरे एलियनों की तरह दखल दे रहे थे। ऐसे बूढ़े लोगों का अवेध्य सूखापन अक्सर बच्चों के वात्सल्य पगे स्पर्शों और मासूम उत्सुक्ताओं से पिघल जाता है (हो) मगर मोहन-बबली के बारह वर्षीय अमोघ को न तो उनकी बोली-बानी समझ आती थी और न कुछ पड़ी ही थी। उसे माणकचंद से नितांत असहनीय बू आती थी। रही सही कसर उन्होंने खुद पूरी कर दी : अमोघ को स्टेशन की गुमटी पर कटिंग चाय परोसने वाले छोटू का तमगा देकर और सामने आने पर उसी तरह संबोधन-निर्देश देकर... ओ छोरा, चल, ग्या सामानै उतकू रख दै... ठाड़ों-ठाड़ों कहा म्हों देखे बिरचो...। उनकी अक्सर कंबल ओढ़कर पड़े रहने की आदत वैसे भी किसी को उत्साही उद्दमशील नहीं रहने देती थी। मैं तो कहता हूँ कि ये अहमदाबाद जैसे शहर का मिजाज है जो ऐसे किसी परिजन को अफोर्ड करने दे रहा था। मुंबई के लिए तो यह नामुमकिन ही नहीं, कल्पनातीत संभावना थी।

अगले रोज मुझे निकलना था। मौका पाकर मैंने जब पापाजी से सुमित्रा नाम की किसी लड़की का जिक्र चलाया तो वे कुछ नहीं बता पाए। उसी शाम बबली को एक उम्दा पेशकार होने की शुभकामनाएँ देकर मैं मुंबई लौट आया और जैसा होता है, फौरन से पेशतर उसकी शिनाख्ती रफ्तार में शामिल हो गया।

गई सदी के मोड़ पर सौ करोड़ रुपए सालाना से ऊपर का कारोबार था सरीन उद्योग का। चालीस साल में चालीस गुना कारोबार कर लिया था। जिस तरह के रंजक यह बना रही थी उसकी देश-विदेश में खूब माँग थी। अपनी इकाइयों के अलावा बाहर भाड़े पर भी उत्पादन करवाना पड़ता था। कंपनी ने विस्तार की कई योजनाओं को अंजाम दे रखा था। एक कारखाना कच्चा माल तैयार करने के लिए भी डाल दिया। लाभांश वितरित होता था। लेकिन उसके अगले पाँच सालों में कंपनी की गाड़ी ऐसी उतरी कि उसका बट्टा बैठ गया। कच्चे माल का कारखाना बंद करना पड़ा क्योंकि वह प्रदूषण कंट्रोल बोर्ड की आँखो में खटक गया।

बाजार से खरीदा कच्चा माल कहीं ज्यादा महंगा पड़ रहा था... इतना कि चीन से निकले रंजकों के मुकाबले कहीं टिक ही नहीं सकता था। उधर मंदी की मार भी पड़ने लगी। रही सही कसर यूनियनों के जिद्दी रवैए ने पूरी कर दी। तीन भागीदारों में दो के बीच निजी तनातनी ऐसी बढ़ी कि प्रबंधन तक मेरे-तेरे की फाँक बनकर रह गया। कुछ लोगों की छँटनी लाजमी थी मगर उनमें से कई लोग कोर्ट-कचहरी करने लगे। नतीजा, कारोबार तीन बरस में सिमटकर एक चौथाई पर आ गया। बैंकों की कर्ज अदायगी रुक गई। कहीं कोई रास्ता सूझ नहीं रहा था बाहर निकलने का। तब हमारी परिसंपत्ति पुनर्निर्माण कंपनी मैदान में उतरी और काम में जुट गई। पहले तो हमने सरीन उद्योग को कर्ज देने वाले चारों बैंकों से सौदा किया कि साठ करोड़ के ऋण का आठ करोड़ में निबटारा किया जाय। उन्हें मानना पड़ा क्योंकि ऋण वसूली प्राधिकरण में जाने के बाद तो सब कुछ अधर में लटका रह जाता। उनके ऑडीटर की मार्फत हमें उनकी खस्ता-नकदी का पता चल गया तो हमने दाँव और बढ़ा दिया। एक मजेदार बात ये हुई कि जिस जमीन के टुकड़े को भागीदार निदेशक ने दस बरस पहले कंपनी को चूना लगाते हुए औने-पौने दाम बेचा था वह अब शहर के रिहायशी विस्तार को छू रहा था। वहाँ कारखाना न सही मगर किसी उद्यमी बिल्डर के साथ मिलकर पूरा टाउनशिप बनाया जा सकता था।

प्रदूषण कंट्रोल बोर्ड के खिलाफ एक फर्जी केस हमने किसी और के नाम से डाला और जीते भी। मीडिया में इसे खूब भुनाया (थोड़ा खर्चा तो हुआ) जिससे कच्चे माल का कारखाना फिर से शुरू हो गया। कंपनी के भागीदार हमारी हैसियत भाँप गए थे सो

अपने हिस्से के शेयरों को हमारी चाही कीमतों पर बेचकर निकलने को तैयार हो गए। तीसरे वाला भागीदार जरूर गर्दन ढीली नहीं कर रहा था मगर उसका प्रतिशत हक इतना कम हो चुका था कि हम उसे रोंद सकते थे जो हमने किया। साल-सवा साल के भीतर- भीतर कंपनी के नकद नुकसान बंद हो गए और तीन महीनों में बहाली भी रफ्तार ले चुकी थी। हाँ, ये अलग बात है कि अब यह रंजक बनाने का कम, रोड तथा पुल निर्माण का ज्यादा कारोबार कर रही थी।

एक अंतरराष्ट्रीय इनवेस्टमेंट बैंकर की मदद से, इस मकाम पर हमने एक उभरते घराने की अधिरचना कंपनी में इसका विलय (मर्जर) करा दिया। मेहनत और कानूनी दौड़-भाग के अलावा हमारी कंपनी के साठ करोड़ रुपए लगे लेकिन दो साल के अंतर्गत अंतत: मिले कितने : दो सौ दस करोड़! यानी पूरे डेढ़ सौ करोड़ का लाभ। यानी हींग लगे न फिटकरी वाली कहावत। ऐसे में अब ये न पूछना कि पिछली कंपनी के कितने मजदूर घर बैठे, कम वेतन पर कितने दूसरी जगहों पर जा छिंटके। कंपनी येन-केन बहाल हो गई जो मेरी कंपनी का धंधा है। अब वो किसी और के हवाले है।

अपनी कंपनी के बोर्ड के लिए तैयार किए जाने वाले पावर पॉइंट प्रेजेंटेशन के लिए मैंने यही रूपरेखा बनाई थी। अंत में लिखी मजदूरों की छँटनी वाली बात मैंने काट दी - मकसद से हटकर होने के कारण। कुछ जाहिर चीजों को जान-बूझकर दबा दिया ताकि लगे कि कटघरे के बाहर भी कुछ है। कुछ चीजें मैं सवाल-जवाब के लिए छोड़ देना चाहता था।

मैं इसी कशमकश में लोट लगा रहा था कि बबली का अहमदाबाद से फोन : माणकचंद नहीं रहे। माणकचंद को लेकर पापाजी और मोहन आगरा गए हुए थे - राजा मंडी के पुश्तैनी घर में। कई दिनों से उनकी तबियत ऊपर-नीचे हो रही थी। बड़बड़ाती हालत में ही वे आगरा का जिक्र किया करते। 'बुलाय रई है मोय... जांगो।'

पापाजी टीका करते कि यह माँ या मातृभूमि की पुकार है जो अपने आदिम रहस्यमय संकेतों के जरिए अपनी और खींचती है।

आगरा वाले उस घर में मुश्किल से दो-तीन रोज ठहरना हुआ कि माणकचंद की तबियत वाकई ऐसी बिगड़ी कि सँभल ही नहीं पाई।

बाद में मोहनजी ने अलबत्ता यह जरूर बताया कि जिस सुमित्रा के होने की बात चल रही थी उसका घर हमारे उस घर के सामने ही था। मालिन थी। भैया का उसके साथ... था। मोहल्ले में पहुँचते ही ये उसके घर की तरफ हो लिए थे। किशोरावस्था में ही काले

पीलिया(लेप्टोस्पिरोसिस) से मर गई थी... बताया था न मैंने कि उन दिनों आगरे में चूहों का बड़ा प्रकोप था...।

पापाजी टूटी-फूटी याद का जोड़ बिठाकर क्या-क्या बताने निकल पड़े।